चिकित्सकीय पुनरुत्थानवादी आंदोलन एवं ‘आधुनिक’ आयुर्वेद का उदय

सौरव कुमार राय
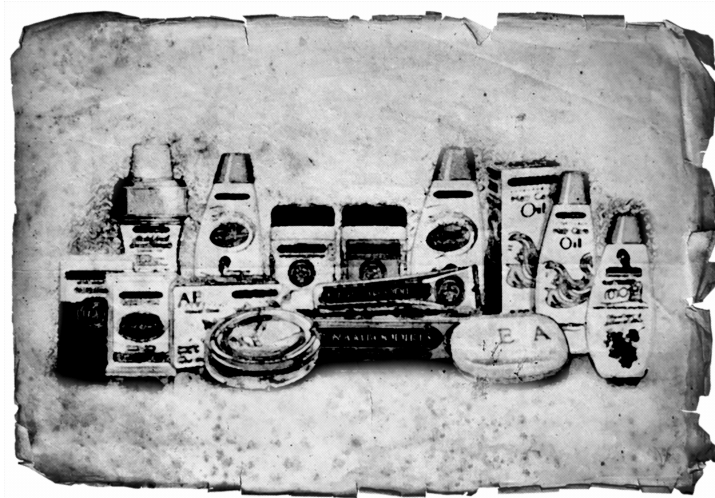
फ्रांसीसी विद्वान मिशेल फ़ूको अपनी किताब द *बर्थ ऑफ़ क्लिनिक* (1973) में यह तर्क देते हैं कि आधुनिकता की शुरुआत के साथ ही समूचे विश्व की चिकित्सा पद्धतियों को युगांतकारी परिवर्तनों से गुज़रना पड़ा। भारतीय संदर्भ में इन परिवर्तनों की शुरुआत औपनिवेशिक आधुनिकता के साथ आरंभ हुई जिसने आयुर्वेद और यूनानी जैसी ‘स्वदेशी’ चिकित्सा पद्धतियों के पूरे स्वरूप को ही बदल कर रख दिया। वर्तमान लेख भारत में 19वीं सदी के उत्तरार्ध एवं 20वीं सदी के पूर्वार्ध में आयुर्वेद के पुनरुत्थान को लेकर चले वैचारिक एवं संगठनात्मक आंदोलन की पड़ताल करते हुए इसकी पेचीदगियों को उजागर करता है। प्रस्तुत लेख में यह दर्शाया गया है कि पाश्चात्य चिकित्सा प्रणाली के प्रतिरोध के दौरान आयुर्वेदिक पुनरुत्थानवादियों के मध्य आंतरिक मतभेद का आधार सिर्फ़ चिकित्सकीय न होकर सामाजिक भी था। साथ ही इस लेख में यह भी दर्शाया गया है कि किस प्रकार पाश्चात्य चिकित्सा से मतभेद होते हुए भी तत्कालीन वैद्यों ने इसके कई संरचनात्मक पहलुओं को आत्मसात भी किया जिससे आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रणाली के स्वरूप में क्रांतिकारी परिवर्तन आए तथा ‘आधुनिक’ आयुर्वेद का प्रादुर्भाव हुआ। इन पहलुओं पर चर्चा करते हुए वर्तमान लेख ‘बाइनरीज़’ की निरर्थकता के पक्ष में भी तर्क देता है ताकि उपरोक्त अवधि के चिकित्सकीय पुनरुत्थानवादी आंदोलन का सही आकलन किया जा सके। इसके अलावा, यहाँ ‘आधुनिक’ आयुर्वेद के प्रादुर्भाव के सामाजिक आधारों पर भी थोड़ी चर्चा मिलेगी।

सन् 1920 में आयुर्वेदिक एवं यूनानी तिब्बिया कॉलेज की वार्षिक रिपोर्ट में लिखते हुए उस दौर के मशहूर हकीम मसीह-उल-मुल्क अजमल ख़ान यह तर्क देते हैं कि 'यदि हम सरकार एवं प्रशासन की बागडोर अपने हाथों में लेना चाहते हैं, तो हमें राष्ट्रीय महत्त्व से जुड़ी हर चीज़ को दुरुस्त करना होगा जिसमें स्वदेशी चिकित्सा पद्धतियाँ भी शामिल हैं। हमारी वास्तविक प्रगति इसी बात पर निर्भर करती है। यदि हम बाहरी चीज़ों पर निर्भर हैं तो हम अपने देश की सेवा करने में विफल रहेंगे।'[1] दरअसल, 19वीं सदी के अंत एवं 20वीं सदी की शुरुआत में 'स्वदेशी' अथवा 'देशज' की अवधारणा विभिन्न राजनीतिक एवं व्यावसायिक कारणों से भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा बन गई थी। यदि हम राजनीतिक कारणों की बात करें तो जैसा कि पार्थ चटर्जी हमें बताते हैं उस दौर में मौजूद नवोद्भिद सुधारवादी एवं राष्ट्रवादी अभिजात वर्ग एक ग़ैर-पश्चिमी आधुनिक राष्ट्रीय संस्कृति के निर्माण हेतु सतत प्रयासरत था।[2] चटर्जी के अनुसार भौतिक जगत में तो इस वर्ग ने औपनिवेशिक वर्चस्व को स्वीकार कर लिया था, परंतु अपनी राष्ट्रीय चेतना को क़ायम रखने हेतु उसके लिए यह अनिवार्य था कि वह अपनी एक विशिष्ट स्वदेशी पहचान बनाए रखे।[3] एक ग़ैर-पश्चिमी/ग़ैर-युरोपीय राष्ट्रीय पहचान के निर्माण की इस प्रक्रिया में देशज परंपराएँ एवं उनका महिमामंडन, जिसमें आयुर्वेद जैसी 'स्वदेशी' चिकित्सा पद्धति का गुणगान भी शामिल था, एक महत्त्वपूर्ण युक्ति थी।

राजनीतिक कारणों के साथ-साथ नवोद्भिद मध्यवर्गीय अभिजात वर्ग के लिए 'स्वदेशी' वस्तुओं, पद्धतियों एवं परंपराओं के प्रति जनसमर्थन का आर्थिक महत्त्व भी था। यह जनसमर्थन इस वर्ग के लिए आजीविका एवं रोज़गार से संबंधित नए अवसर खोलने में सक्षम था। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि राजनीतिक रूप से आकर्षक होने के साथ-साथ 'स्वदेशी' अवधारणा की एक ज़बरदस्त व्यावसायिक अपील भी थी। औपनिवेशिक पूँजीवाद के अंतर्गत भारतीय अर्थव्यवस्था के व्यावसायिक विस्तार ने 'स्वदेशी' उत्पादों एवं परंपराओं को आर्थिक रूप से एक लाभदायी उद्यम बना दिया था। इस प्रकार 19वीं सदी के उत्तरार्ध एवं 20वीं सदी के पूर्वार्ध में नवोद्भिद सुधारवादी अभिजात वर्ग के नेतृत्व में 'स्वदेशी' परंपराओं एवं वस्तुओं को एक व्यापक जनसमर्थन प्राप्त हुआ।

हालाँकि, 'स्वदेशी' की श्रेणी भारतीय संदर्भ में काफ़ी जटिल थी। भारत जैसे बहुलतावादी समाज में कौन-सी सांस्कृतिक कला, प्रणाली या परंपरा वास्तव में भारत की 'स्वदेशी' कला, प्रणाली या परंपरा का प्रतिनिधित्व करती है, यह निर्धारित करना बहुत मुश्किल है। ऐसे में प्रत्येक समूह, समुदाय अथवा वर्ग अपनी कला, प्रणाली या परंपरा को भारत की 'वास्तविक' 'स्वदेशी' कला, प्रणाली या परंपरा होने का न सिर्फ़ दावा पेश कर रहा था, वरन इसके लिए संगठन, प्रचार एवं राजनीति के माध्यम से जनसमर्थन तथा राजकीय मान्यता प्राप्त करने की भी चेष्टा कर रहा था। हमारे कालखंड में 'स्वदेशी' चिकित्सा प्रणाली के तौर पर आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति का पुनरुत्थान एवं तत्संबंधित राजनीति इसी व्यापक परिघटना का एक हिस्सा थी जिसका मूल उद्देश्य आयुर्वेद को एक 'प्रामाणिक', 'समयातीत' एवं भारत की 'वास्तविक' 'स्वदेशी' चिकित्सा पद्धति के रूप में स्थापित करना था।

---

[1] बारबरा डी. मेटकाफ़ (1985) : 20.

[2] पार्थ चटर्जी (1993) : 6.

[3] पार्थ चटर्जी (1989) : 622-33.

'स्वदेशी' चिकित्सा पद्धतियों का पुनरुत्थान एवं संबंधित विवाद

भारत में पाश्चात्य चिकित्सा के बढ़ते प्रभुत्व अथवा वर्चस्व के ख़िलाफ़ 19वीं सदी के अंत तथा 20वीं सदी के आरंभ में 'स्वदेशी' चिकित्सा पद्धतियों के पुनरुत्थान के लिए एक व्यापक मुहिम की शुरुआत हुई। ध्यातव्य है कि भारत में पाश्चात्य चिकित्सा तथा इससे जुड़े विचारों का उपयोग अंग्रेज़ों द्वारा औपनिवेशिक शासन को सुदृढ़ करने हेतु किया गया था।[4] साथ ही भारत में पाश्चात्य चिकित्सकीय सुविधाओं के वितरण में नस्लीय भेदभाव भी विद्यमान था। साधारण जन की अपेक्षा पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति का मुख्य उद्देश्य भारत में उपस्थित औपनिवेशिक शासकों तथा सैनिकों को स्वास्थ्यलाभ पहुँचाना था। पाश्चात्य चिकित्सा और औपनिवेशिक शासन के मध्य यह संबंध इतना स्पष्ट था कि कई विद्वानों ने पाश्चात्य चिकित्सा को 'औपनिवेशिक चिकित्सा' की भी संज्ञा दी है।[5] इस पृष्ठभूमि में 'स्वदेशी' चिकित्सा पद्धतियों के पुनरुत्थान ने तत्कालीन सुधारवादी अभिजात वर्ग का ध्यान सहज ही आकर्षित किया। इस दौर में औपनिवेशिक शासन द्वारा 'स्वदेशी' चिकित्सा पद्धतियों की बार-बार 'आदिम', 'प्रागैतिहासिक', 'जड़' और 'अवैज्ञानिक' उपचार के तरीक़ों से तुलना ने भी सुधारवादी अभिजात वर्ग को काफ़ी उद्वेलित किया। कालांतर में भारतीय राष्ट्रवादी अभिजात वर्ग के लिए 'स्वदेशी' चिकित्सा पद्धतियों का पुनरुत्थान उनकी राष्ट्रवादी पहचान का महत्त्वपूर्ण हिस्सा बन गया। इस संदर्भ में जैसा कि पूनम बाला बताती हैं औपनिवेशिक भारत में राष्ट्रवादी आंदोलन के विकास के साथ ही आयुर्वेद और यूनानी जैसी 'स्वदेशी' चिकित्सा पद्धतियों का पुनर्मूल्यांकन तथा पुनरुत्थान एक समृद्ध राष्ट्रीय ज्ञान और पहचान के निर्माण हेतु आवश्यक हो गया था।[6]

हालाँकि भारत में 'स्वदेशी' चिकित्सा पद्धतियों के पुनरुत्थान की अपनी पेचीदगियाँ थीं। 'स्वदेशी' चिकित्सा पद्धति के प्रवर्तकों के समक्ष दो मूलभूत प्रश्न थे जिसे फ़ौरी तौर पर हल किया जाना आवश्यक था। पहला प्रश्न यह था कि 'कौन-सी चिकित्सा-पद्धति भारत की वास्तविक स्वदेशी चिकित्सा पद्धति का प्रतिनिधित्व करती है?' तथा दूसरा सवाल यह था कि 'कौन-सी प्रथाएँ, ज्ञान प्रणाली एवं चिकित्सक उस वास्तविक स्वदेशी चिकित्सा पद्धति के घटक हैं?' इन दो प्रासंगिक सवालों के जवाब ने 'स्वदेशी' चिकित्सा पद्धतियों के पुनरुत्थान के समूचे परिदृश्य को काफ़ी जटिल बना दिया था। हमारी राय में उपरोक्त दो प्रश्नों के जवाब सर्वथा चिकित्सकीय न होकर जाति, वर्ग तथा समुदाय उन्मुख सामाजिक एवं राजनीतिक चेतनाओं से प्रेरित थे। और यह अध्ययन उत्तर भारत में चल रहे आयुर्वेदिक पुनरुत्थानवादी आंदोलन की सघन पड़ताल पर केंद्रित है।

---

[4] पूनम बाला (1991), डेविड आर्नल्ड (1993), मार्क हैरिसन (1994).

[5] यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि 'औपनिवेशिक चिकित्सा' से अभिप्राय औपनिवेशिक शासन द्वारा प्रसारित चिकित्सा व्यवस्था तक ही सीमित नहीं है, वरन जैसा कि डेविड आर्नल्ड हमें बताते हैं इसका अर्थ कहीं ज़्यादा व्यापक एवं गूढ़ है. आर्नल्ड के अनुसार औपनिवेशिक चिकित्सा तथा इससे जुड़े सिद्धांतों का औपनिवेशिक शक्ति के सुदृढ़ीकरण एवं क्रियान्वयन में महत्त्वपूर्ण योगदान था. दूसरे शब्दों में, औपनिवेशिक शासन एवं औपनिवेशिक चिकित्सा पद्धति एक-दूसरे के पूरक थे. डेविड आर्नल्ड (2000) : 15.

[6] पूनम बाला (2012) : 2.

ज्ञान की एकात्मकता बनाम 'हिंदू' वैद्य व 'मुस्लिम' हकीम

यदि हम उपरोक्त पहले प्रश्न की चर्चा करें तो भारत जैसे बहुलतावादी देश में किसी एक चिकित्सा पद्धति को भारत की 'वास्तविक' 'स्वदेशी' चिकित्सा पद्धति का तमग़ा देना काफ़ी दुष्कर कार्य था। भारत पारंपरिक रूप से आयुर्वेद, यूनानी, सिद्ध, योग आदि के साथ-साथ असंख्य स्थानीय उपचार पद्धतियों का पालना रहा है। इन असंख्य चिकित्सा पद्धतियों में से आयुर्वेद तथा यूनानी 'वास्तविक' भारतीय स्वदेशी चिकित्सा पद्धति के समकालीन दावे के लिए प्राथमिक दावेदार के रूप में उभरे। आरंभ में कुछ समय के लिए इन दोनों चिकित्सा प्रणालियों के प्रवर्तकों तथा चिकित्सकों ने भारत में पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति के बढ़ते औपनिवेशिक प्रभुत्व से लड़ने के लिए सहयोग की रणनीति अपनाई। राष्ट्रीय स्तर पर आयुर्वेद और यूनानी के मध्य यह सहयोग विशेष तौर पर हकीम अजमल ख़ान के लेखन एवं प्रयासों के माध्यम से प्रकट हुआ।

11 फ़रवरी, 1868 को दिल्ली में जन्मे, अजमल ख़ान भारतीय राष्ट्रीय कॉन्ग्रेस और अखिल भारतीय मुस्लिम लीग दोनों से जुड़े हुए थे।[7] वे स्वयं यूनानी चिकित्सा पद्धति के एक प्रसिद्ध हकीम थे। उनका ताल्लुक़ दिल्ली के शरीफ़ी परिवार से था जो भारत में यूनानी चिकित्सा के मशहूर घरानों में से एक था। आरंभ में वे सर सैयद अहमद ख़ान के 'आधुनिक इस्लाम' की विचारधारा से काफ़ी प्रभावित थे।[8] हालाँकि बाद के वर्षों में सर सैयद अहमद ख़ान और उनके अलीगढ़ आंदोलन से इतर, हकीम अजमल ख़ान हिंदू-मुस्लिम एकता के महत्त्वपूर्ण प्रवर्तक के तौर पर राष्ट्रीय राजनीति में उभरे। अजमल ख़ान के प्रयासों से 1910 में अखिल भारतीय आयुर्वेदिक एवं यूनानी तिब्बी सम्मेलन की पहली बैठक बुलाई गई। गाय ऐटवेल के अनुसार इस सम्मेलन के तीन मुख्य उद्देश्य थे। सर्वप्रथम उद्देश्य आयुर्वेद और यूनानी चिकित्सा पद्धतियों का पृथक या संयुक्त स्कूलों अर्थात संस्थागत माध्यमों से अधिकाधिक शैक्षिक विस्तार था। दूसरा उद्देश्य 'स्वदेशी' चिकित्सा पद्धतियों को पारंपरिक वैद्यों और हकीमों के वंशानुगत नियंत्रण से बाहर निकालकर इन पद्धतियों के क्षैतिज विस्तार को प्रोत्साहित करना था। तीसरा अंतिम उद्देश्य 'स्वदेशी' चिकित्सा पद्धतियों की उन्नति हेतु सरकार के साथ बातचीत एवं समझौते के लिए एक मंच प्रदान करना था।[9]

आयुर्वेद और यूनानी के उपरोक्त साझा एजेंडे को अग्रसारित करने में अखिल भारतीय आयुर्वेदिक एवं यूनानी तिब्बी सम्मेलन सबसे आगे था। यह जगह-जगह वैद्यों तथा हकीमों के लिए वार्षिक जलसों और समारोहों का आयोजन करता था जिनमें स्थानीय कुलीन, ज़मींदार, मैजिस्ट्रेट, नगरपालिका के सदस्य तथा अन्य गण्यमान्य व्यक्तियों को भी आमंत्रित किया जाता था। इसके अलावा 'स्वदेशी' चिकित्सा पद्धतियों के लिए लोकप्रिय समर्थन जुटाने के लिए सम्मेलन द्वारा कवि दरबार तथा तिब्बी

---

[7] वस्तुतः अजमल ख़ान उन चुनिंदा व्यक्तियों में से एक हैं जिन्हें अलग-अलग समय पर अखिल भारतीय राष्ट्रीय कॉन्ग्रेस (अहमदाबाद, 1921) एवं अखिल भारतीय मुस्लिम लीग (अमृतसर, 1919) दोनों के वार्षिक अधिवेशनों की अध्यक्षता करने का अवसर प्राप्त हुआ. साथ ही अजमल ख़ान अखिल भारतीय ख़िलाफ़त समिति के भी अध्यक्ष रह चुके थे.

[8] क्लॉडिआ लाइबेसकिंड (2002) : 60.

[9] गाय ऐटवेल (2007) : 152-53.
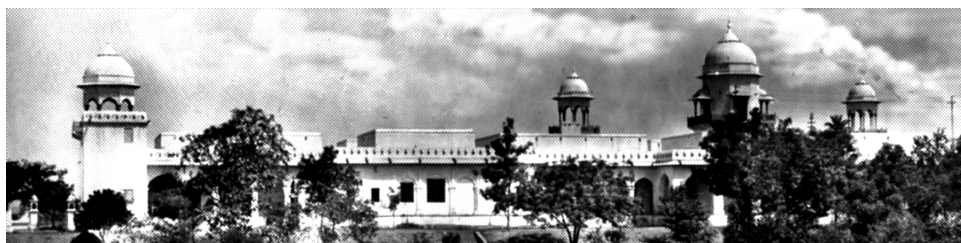
हकीम अजमल ख़ान ने वैद्यों और हकीमों को उनकी पृथक धार्मिक प्रतिबद्धताओं के बावजूद सदैव एक 'क़ौम' अथवा 'गिरोह' का सदस्य माना। अजमल ख़ान के लिए चिंतन का सर्वप्रथम विषय भारत में पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति का बढ़ता हुआ प्रभुत्व था जिसके विरुद्ध वैद्यों और हकीमों का तत्काल एकजुट होना आवश्यक था। इसलिए उन्होंने पाश्चात्य चिकित्सा के भेदभावपूर्ण रवैये के विरुद्ध एकीकृत प्रतिरोध पर बल दिया।

मुशायरा जैसे कार्यक्रमों का भी आयोजन किया जाता था।[10] यद्यपि सम्मेलन ने कभी भी 'मुस्लिम-यूनानी' एवं 'हिंदू-आयुर्वेद' के मानक औपनिवेशिक भेद को चुनौती नहीं दी, इसने सदैव ज्ञान की एकात्मकता पर बल दिया। वस्तुतः हकीम अजमल ख़ान ने वैद्यों और हकीमों को उनकी पृथक धार्मिक प्रतिबद्धताओं के बावजूद सदैव एक 'क़ौम' अथवा 'गिरोह' का सदस्य माना।[11] अजमल ख़ान के लिए चिंतन का सर्वप्रथम विषय भारत में पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति का बढ़ता हुआ प्रभुत्व था जिसके विरुद्ध वैद्यों और हकीमों का तत्काल एकजुट होना आवश्यक था। इसलिए उन्होंने पाश्चात्य चिकित्सा के भेदभावपूर्ण रवैये के विरुद्ध एकीकृत प्रतिरोध पर बल दिया। यही कारण था कि अजमल ख़ान और उनका सम्मेलन 20वीं सदी के शुरुआती दशकों में विभिन्न प्रांतीय सरकारों द्वारा पारित भेदभावपूर्ण चिकित्सा पंजीकरण अधिनियमों[12] के विरोध में सबसे ज़्यादा मुखर था।

आयुर्वेद एवं यूनानी के सामंजस्यपूर्ण संवर्धन हेतु अजमल ख़ान के प्रयासों से दिल्ली में एक आयुर्वेदिक तथा यूनानी तिब्बिया कॉलेज की भी स्थापना की गई। इसकी आधारशिला 1916 में भारत के तत्कालीन वाइसरॉय लॉर्ड हार्डिंग ने रखी तथा इसका उद्घाटन 1921 में महात्मा गांधी ने असहयोग आंदोलन के दौरान किया। आयुर्वेदिक तथा यूनानी तिब्बिया कॉलेज के उद्घाटन के दौरान

---

[10] कविता शिवरामकृष्णन (2006) : 116.

[11] गाय ऐटवेल (2007) : 158.

[12] इन अधिनियमों के माध्यम से ऐलोपैथिक डॉक्टरों के राजकीय पंजीकरण की व्यवस्था की गई थी. इस व्यवस्था के तहत उन्हें दो वर्गों में बाँटा गया : 'पंजीकृत' तथा 'अपंजीकृत'. सरकारी कामकाज के लिए सिर्फ़ पंजीकृत डॉक्टरों द्वारा जारी किए गए प्रमाण पत्र ही मान्य थे. चूँकि वैद्यों एवं हकीमों को पंजीकरण की इस व्यवस्था से दूर रखा गया था, वे सरकारी कामकाज में दख़ल नहीं दे सकते थे. यह बात तत्कालीन वैद्यों एवं हकीमों को काफ़ी नागवार गुज़री तथा उन्होंने इन अधिनियमों के ख़िलाफ़ मोर्चा खोल दिया.

दिए गए अपने भाषण में महात्मा गांधी ने इसे हिंदू-मुस्लिम एकता का शानदार प्रतीक माना।[13] इसी क्रम में अजमल ख़ान की ही सलाह पर आयुर्वेद एवं यूनानी औषधियों के उत्पादन हेतु हकीम वासिल ख़ान ने दिल्ली में यूनानी और आयुर्वेदिक मेडिसिन कंपनी की स्थापना की जो बाद में हिंदुस्तानी दवाख़ाना के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह अजमल ख़ान जैसे लोगों के निरंतर प्रयास का ही परिणाम था कि दिसंबर 1918 में अखिल भारतीय राष्ट्रीय कॉन्ग्रेस ने अपने तैंतीसवें अधिवेशन में निम्न प्रस्ताव पारित किया :

> भारत में आयुर्वेदिक और यूनानी चिकित्सा पद्धतियों के प्रसार एवं उपयोगिता को देखते हुए यह कॉन्ग्रेस भारत सरकार से यह अनुशंसा करती है कि वर्तमान प्रशासनिक नीति में पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति की ही भाँति आयुर्वेद तथा यूनानी के संरक्षण हेतु भी यथोचित स्थान प्रदान किया जाए।[14]

दूसरी तरफ़ हकीम अजमल ख़ान जैसे लोगों के साझा प्रयासों के विपरीत 20वीं सदी की शुरुआत में चिकित्सा के क्षेत्र में भी सांप्रदायिक ध्रुवीकरण की आहट देखी जा सकती है। उत्तर भारत में वैद्यों तथा हकीमों का सांप्रदायिक ताक़तों के प्रति विशेष रुझान था। 20वीं सदी के सांप्रदायिक ध्रुवीकरण के माहौल में शीघ्र ही आयुर्वेद एवं यूनानी के पुनरुद्धार को क्रमशः हिंदू एवं इस्लामी पुनरुत्थान के व्यापक एजेंडे तथा हिंदू और इस्लामी धार्मिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय पहचान के निर्माण से जोड़कर देखा जाने लगा। परिणामस्वरूप, आयुर्वेद और यूनानी के हिमायती पाश्चात्य चिकित्सा के ख़िलाफ़ साझा लड़ाई को छोड़ एक-दूसरे के विरुद्ध खड़े दिखाई पड़ने लगे। दोनों अपने-अपने तरीक़ों, तर्कों एवं राजनीतिक गतिविधियों के माध्यम से न सिर्फ़ स्वयं को भारत की 'वास्तविक',' स्वदेशी' चिकित्सा पद्धति होने का दावा पेश करते हैं, वरन एक-दूसरे की निंदा भी करते हुए नज़र आते हैं। दूसरे शब्दों में, अजमल ख़ान जैसे लोगों के सकारात्मक प्रयासों के बावजूद 1920 और 1930 का दशक आते-आते 'स्वदेशी' चिकित्सा पद्धतियाँ अंततः उन प्रतीकों में बदल गईं जिनके इर्द-गिर्द सांप्रदायिक ध्रुवीकरण हो सकता था। सांप्रदायिक पहचान के निर्माण का यह एक अप्रतिम उदाहरण था जहाँ ग़ैर-धार्मिक प्रतीकों को उनके संदर्भों से बाहर निकालकर राजनीतिक इरादे से उनके आस-पास सांप्रदायिक शब्दावली विकसित की गई।[15] अखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन एवं अंजुमन-ए-तिब्बिया जैसे संगठनों ने आयुर्वेद और यूनानी के मध्य इस सांप्रदायिक प्रतिद्वंद्विता को विशेष रूप से प्रश्रय दिया।

अखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन का पहला अधिवेशन 1907 में नासिक में आयोजित किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य आयुर्वेदिक पुनरुत्थानवादी आंदोलन को एक सुव्यवस्थित एवं निश्चित दिशा प्रदान करना था। सम्मेलन सभी वैद्यों को एक छत के नीचे लाकर उन्हें एक सामूहिक हिंदूवादी पहचान देने के प्रति सन्नद्ध था। वैद्य सम्मेलन स्वयं को 'हिंदू' वैद्यों के हितों का एकमात्र प्रवक्ता एवं संरक्षक होने का दावा पेश कर रहा था। सम्मेलन के हिसाब से 'हिंदू' वैद्यों के हित एवं चिंताएँ 'मुस्लिम' हकीमों के हितों एवं चिंताओं से न सिर्फ़ भिन्न, वरन परस्पर विरोधाभासी हैं। ऐसे में वैद्य

---

[13] महात्मा गांधी (13 फ़रवरी, 1921) : 361.

[14] 'मेमोरेंडम', फ़ाइल संख्या 174-175 बी, अगस्त 1926, एजुकेशन, हेल्थ ऐंड लैंड डिपार्टमेंट, राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली.

[15] उत्तर भारत में सांप्रदायिक पहचान के निर्माण की इस प्रक्रिया पर विस्तृत चर्चा हेतु देखें, सैंड्रिया फ्रायटैग (1989).

सम्मेलन हकीम अजमल ख़ान द्वारा स्थापित अखिल भारतीय आयुर्वेदिक एवं यूनानी तिब्बी सम्मेलन (जो साझा लड़ाई की वकालत कर रहा था) को संदिग्ध नज़रों से देखता था। वस्तुतः, वैद्य सम्मेलन ने अपने वक्तव्यों में अखिल भारतीय आयुर्वेदिक एवं यूनानी तिब्बी सम्मेलन को सदैव 'विभीषण' के रूप में प्रस्तुत किया जिसकी गतिविधियाँ चाहे कितनी भी सात्विक क्यों न हों उनसे लगातार सावधान रहने की ज़रूरत थी।[16] वैद्य सम्मेलन के प्रवचनों में सांप्रदायिक चेतना के प्रतीकों जैसे कि 'प्राचीन हिंदू विज्ञान' का गुणगान, गौरक्षा की आवश्यकता, प्राचीन हिंदू संस्कृति का संरक्षण, संस्कृत एवं हिंदी भाषा की श्रेष्ठता, आर्य विरासत एवं प्राचीन ऋषियों की वेद-सम्मत शिक्षा एवं उनके लेखन की पवित्रता पर ज़्यादा ज़ोर दिया गया।

आयुर्वेदिक एवं यूनानी तिब्बी सम्मेलन सबसे आगे था। यह जगह-जगह वैद्यों तथा हकीमों के लिए वार्षिक जलसों और समारोहों का आयोजन करता था जिनमें स्थानीय कुलीन, ज़मींदार, मैजिस्ट्रेट, नगर पालिका के सदस्य तथा अन्य गण्यमान्य व्यक्तियों को भी आमंत्रित किया जाता था। इसके अलावा 'स्वदेशी' चिकित्सा पद्धतियों के लिए जन-समर्थन जुटाने के लिए सम्मेलन द्वारा कवि दरबार तथा तिब्बी मुशायरा जैसे कार्यक्रमों का भी आयोजन किया जाता था।

सम्मेलन के प्रकाशनों में भी आयुर्वेद को न सिर्फ़ मौजूदा भारतीय चिकित्सा पद्धतियों में से सबसे 'उत्तम' बल्कि सबसे 'मौलिक' एवं 'देशज' मूल वाली चिकित्सा पद्धति के तौर पर प्रचारित किया जा रहा था। इसी क्रम में वैद्य सम्मेलन ने यूनानी के विदेशी मूल को ज़ोर-शोर से उभारने की नकारात्मक रणनीति भी अपनाई। इसके अलावा, वैद्य सम्मेलन ने आयुर्वेद को मुख्य रूप से हिंदू वैदिक देवी-देवताओं एवं शास्त्रों से जोड़ने का भी प्रयत्न किया ताकि इसके इर्द-गिर्द एक पवित्र प्रभामंडल का निर्माण किया जा सके। सम्मेलन द्वारा 'धन्वंतरि महोत्सव' की शुरुआत इस प्रयास का एक हिस्सा था। यहाँ ये ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि 20वीं सदी से पूर्व धन्वंतरि का उल्लेख अवश्य मिलता है, परंतु उन्हें कभी भी वैद्यों के भगवान के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया और न ही उनके सार्वजनिक पूजा-पाठ का ही कोई प्रमाण मिलता है। वैद्यों के पेशेवर देवता के रूप में धन्वंतरि का प्रतिस्थापन वैद्य सम्मलेन एवं उससे जुड़े नेताओं के प्रयासों का ही परिणाम था।[17] सम्मेलन ने न सिर्फ़ धन्वंतरि को वैद्यों के अभीष्ट देव के रूप में प्रचारित किया, वरन दिवाली के ठीक पहले धनतेरस के मौक़े पर उनके नाम पर जगह-जगह महोत्सवों के आयोजन की भी शुरुआत की। दूसरे शब्दों में, 20वीं सदी के

[16] *सुधानिधि*, संख्या 2, क्रमांक 3 (1913) : 168.

[17] इस संदर्भ में कविता शिवरामकृष्णन ने धन्वंतरि पूजन से जुड़े कर्मकांड को मूर्त रूप देने में सम्मेलन के अग्रणी नेता जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल तथा उनके द्वारा प्रकाशित पत्रिका *सुधानिधि* की भूमिका का विशेष उल्लेख किया है. विस्तार से चर्चा के लिए देखें, कविता शिवरामकृष्णन (2006) : 117.

शुरुआती दशकों में धन्वंतरि का वैद्यक संबंधी देवत्व एवं उनकी लोकप्रियता विशुद्ध आधुनिक घटना थी जिसे हम 'परंपराओं के आविष्कार' के संदर्भ में भी समझ सकते हैं।[18]

कालांतर में वैद्य सम्मेलन ने आयुर्वेद की उन्नति को हिंदू संस्कृति के संरक्षण से भी जोड़ दिया। सम्मेलन का यह मानना था कि जिस प्रकार से यूनानी हकीम इस्लामी संस्कृति और उसके संरक्षण को लेकर काफ़ी सजग रहते हैं, हिंदू वैद्यों को भी एक विशाल 'हिंदू' संस्कृति तथा राष्ट्र के पोषण हेतु एक होने की ज़रूरत है।[19] जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल और गणनाथ सेन जैसे वैद्य जो सम्मेलन से सक्रिय तौर पर जुड़े हुए थे, आयुर्वेद के इस हिंदू सांस्कृतिक एवं राजनीतिक पक्ष के पुरोधाओं में से थे।

20वीं सदी के बदलते राजनीतिक माहौल में यूनानी पुनरुत्थानवादी आंदोलन में भी सांप्रदायिक विचारों का तेज़ी से प्रसार हुआ। भारत के दो प्रमुख यूनानी परिवारों, हकीम अजमल ख़ान के 'दिल्ली परिवार' एवं हकीम अब्द अल-अज़ीज़ के 'लखनऊ परिवार', के बीच बढ़ती हुई खाई इस सांप्रदायिक ध्रुवीकरण का ही नतीजा था। लखनऊ के हकीमों ने अब्द अल-अज़ीज़ के नेतृत्व में 1911 में अंजुमन-ए-तिब्बिया नामक संगठन की स्थापना की जिसका मूल उद्देश्य आयुर्वेद से पृथक यूनानी के 'विशुद्ध' स्वरूप का पुनरुत्थान था। अखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन की ही भाँति, अंजुमन-ए-तिब्बिया ने भी हकीम अजमल ख़ान एवं अखिल भारतीय आयुर्वेदिक एवं यूनानी तिब्बी सम्मेलन की सुलहवादी व साझा रणनीति के प्रति न सिर्फ़ गहरा अविश्वास प्रकट किया, वरन सूबे के हकीमों से इसके बहिष्कार का भी आह्वान किया। जल्द ही अंजुमन-ए-तिब्बिया का नाम बदलकर अखिल भारतीय यूनानी तिब्बी सम्मेलन कर दिया गया, जिसने सिर्फ़ यूनानी चिकित्सा पद्धति की उन्नति के लिए कार्य करने का संकल्प लिया। इस प्रकार अखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन एवं अंजुमन-ए-तिब्बिया के संरक्षण में 'ज्ञान की एकात्मकता' के स्थान पर 'हिंदू' वैद्यों तथा 'मुस्लिम' हकीमों के 'संप्रदाय' अथवा 'क़ौम' से संबंधित हितों को ज़्यादा तरजीह दी जाने लगी।

औपनिवेशिक संदर्भ तथा 'आधुनिक' आयुर्वेद का निर्माण

यदि हम तत्कालीन चिकित्सकीय पुनरुत्थानवादी आंदोलन से जुड़े दूसरे जटिल परंतु प्रासंगिक सवाल (अर्थात, कौन-सी प्रथाएँ, ज्ञान प्रणाली तथा चिकित्सक उस चिकित्सा पद्धति के घटक थे जो भारत की 'वास्तविक' स्वदेशी चिकित्सा पद्धति होने का दावा पेश कर रहे थे?) की पड़ताल करें तो यह पता चलता है कि विवाद सिर्फ़ 'हिंदू' वैद्य बनाम 'मुस्लिम' हकीम तक सीमित न था, वरन वैद्य एवं हकीम क्रमशः अपने-अपने समुदायों में भी आंतरिक तौर पर विभाजित थे। यह आंतरिक विभाजन काफ़ी हद तक प्रथाओं, विचारों, ज्ञान प्रणाली एवं घटक चिकित्सकों के मुद्दे पर था। यह ग़ौरतलब है कि 19वीं

---

[18] 'परंपराओं के आविष्कार' की संकल्पना का प्रतिपादन सर्वप्रथम एरिक हॉब्सबॉम एवं टेरेंस रेंजर ने अपनी किताब *दि इन्वेंशन ऑफ़ ट्रैडिशन* (1983) में किया जिसका मूल उद्देश्य वर्तमान परंपराओं के उद्गम एवं महत्ता को समझना था. उन्होंने अनेक उदाहरण के माध्यम से यह दर्शाया कि अधिकांश परंपराएँ जिन्हें हम वर्तमान दौर में देखते हैं उनका 'आविष्कार' हाल ही में समुदाय एवं राष्ट्र की सामूहिक चेतना को बनाए रखने के उद्देश्य से किया गया है. धन्वंतरि के देवत्व स्वरूप के प्रतिस्थापन को भी हॉब्सबॉम एवं रेंजर की इस संकल्पना के माध्यम से समझा जा सकता है.

[19] *सुधानिधि*, संख्या 2, क्रमांक 3 (1913) : 169.

सदी तथा उससे पूर्व विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों के मध्य उपचार के तौर-तरीक़ों, चिकित्सकीय विचारों तथा औषधियों का एक सतत प्रवाह नज़र आता है। यह लचीलापन पूर्व-आधुनिक चिकित्सा पद्धतियों का नैसर्गिक गुण था। इस कारण किसी भी पूर्व-आधुनिक चिकित्सा पद्धति में उपचार संबंधी ज्ञान, विचारों एवं प्रथाओं की विविधता सहज ही देखी जा सकती है। भारतीय देशज चिकित्सा पद्धतियों का यह लचीलापन औपनिवेशिक शासकों की नज़रों में इनके 'आदिम' स्वरूप का परिचायक था। औपनिवेशिक अधिकारियों का यह मानना था कि पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति से भिन्न भारतीय चिकित्सा पद्धतियाँ किसी भी मानक ज्ञान प्रणाली से लैस न होकर वस्तुतः अनेक प्रथाओं का उदार मिश्रण मात्र हैं। ऐसे में औपनिवेशिक आधुनिकता से अभिभूत तत्कालीन शासक वर्ग आयुर्वेद और यूनानी जैसी चिकित्सा पद्धतियों को वैज्ञानिक चिकित्सा पद्धतियाँ मानने को तैयार नहीं था।

उपरोक्त संदर्भ में तत्कालीन वैद्य पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति के प्रति विरोध के बावजूद इससे जुड़ी अनेक विशेषताओं को अपनाने को बाध्य थे जिससे कि आयुर्वेद को औपनिवेशिक शासकों की दृष्टि में एक वैज्ञानिक चिकित्सा पद्धति का दर्जा हासिल हो सके। अतः 19वीं सदी के अंत और 20वीं सदी के पूर्वार्ध में आयुर्वेद का जो स्वरूप पुनरुद्धार के पश्चात् उभर कर सामने आया वो कई मायनों में परंपरागत आयुर्वेद से भिन्न 'आधुनिक' आयुर्वेद का था तथा इससे जुड़े वैद्य पारंपरिक वैद्य न होकर 'नव' वैद्य थे। यहाँ उन आधुनिक विशिष्टताओं की चर्चा अवश्यंभावी हो जाती है जिनको 20वीं सदी के आयुर्वेद ने अपने पुनरुत्थान के दौरान आत्मसात कर लिया था। जिन तीन प्रमुख विशिष्टताओं को आयुर्वेदिक चिकित्सकों ने इस दौर में पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति से अपनाया वे थे — शिक्षण की संस्थागत व्यवस्था, रोगों के निदान का मानकीकरण एवं औषधियों का फ़ार्मेसी केंद्रित उत्पादन।

सदियों से आयुर्वेद संबंधी वैद्यक ज्ञान मूलतः गुरु-शिष्य परंपरा या फिर परिवार के माध्यम से पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होता हुआ चला आ रहा था। ऐसे में आयुर्वेद में किसी मानक संस्थागत प्रशिक्षण की कमी को औपनिवेशिक शासकों द्वारा आयुर्वेद के पिछड़ेपन के संकेत के रूप में देखा गया। परिणामस्वरूप, 19वीं सदी के उत्तरार्ध एवं 20वीं सदी के पूर्वार्ध में आयुर्वेद के संस्थागत प्रशिक्षण हेतु आयुर्वेदिक पुनरुत्थानवादियों ने देश के विभिन्न हिस्सों में आयुर्वेदिक स्कूल और कॉलेजों की स्थापना की। साथ ही आयुर्वेदिक प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम को भी समरूपता प्रदान करने का प्रयास किया गया। इसी क्रम में अखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन, जो कि 'नव' वैद्यों का सबसे बड़ा प्रतिनिधि संगठन था, ने 1911 में इलाहाबाद में हुए अपने तीसरे वार्षिक अधिवेशन के दौरान 'आयुर्वेदिक विद्यापीठ' की भी स्थापना की, जिसका मूल उद्देश्य पूरे देश में आयुर्वेदिक प्रशिक्षण एवं पाठ्यक्रम का मानकीकरण करना था।

इसके अलावा, यदि हम पारंपरिक आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति को देखें तो इसमें मानकीकृत निदान का अभाव है। यदि एक ही बीमारी से पीड़ित दो रोगी किसी पारंपरिक वैद्य के पास जाते हैं तो यह आवश्यक नहीं है कि उनके निदान की प्रक्रिया एक जैसी हो। ऐसा इसलिए है क्योंकि एक पारंपरिक वैद्य के लिए कोई भी रोग शरीर में वात (यानि हवा), कफ़ (यानि बलगम) और पित्त (यानि भोजन को पचाने का रस) के असंतुलन से जन्मी अवस्था है जिसे आयुर्वेदिक भाषा में 'त्रिदोष का सिद्धांत' भी कहते हैं। यह असंतुलन अलग-अलग व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न हो

सकता है। अतः एक पारंपरिक वैद्य का ध्यान रोग की अपेक्षा रोगी की दिनचर्या, आहार संबंधी आदतें, इत्यादि ज़्यादा आकर्षित करती हैं क्योंकि इनका सीधा संबंध वात, कफ़ एवं पित्त के असंतुलन से होता है। इसलिए यद्यपि रोग एक हो परंतु वात, कफ़ एवं पित्त के असंतुलन की वजह भिन्न हो तो पारंपरिक आयुर्वेद में निदान भी स्वयमेव भिन्न हो जाता है। इसके विपरीत पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति 'समान रोग के लिए समान निदान' (हालाँकि दवा की ख़ुराक रोग की गंभीरता के अनुसार भिन्न हो सकती है) के सिद्धांत पर काम करती है। इस कारणवश औपनिवेशिक काल में ऐलोपैथी के चिकित्सकों द्वारा आयुर्वेद के ग़ैर-मानकीकृत निदान के तौर-तरीक़ों की तीक्ष्ण आलोचना मिलती है। परिणामतः 20वीं शताब्दी के नव पल्लवित वैद्यों ने भी निदान के मानकीकरण की वकालत करनी शुरू कर दी। ऐसे में धीरे-धीरे आयुर्वेद के अंदर भी किताबी ज्ञान एवं सिद्धांतों को व्यक्तिगत तजुर्बे तथा अनुभवात्मक ज्ञान के ऊपर तरजीह दी जाने लगी।

इसी प्रकार औपनिवेशिक काल से पहले पारंपरिक आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति में एक ही व्यक्ति तीन अलग-अलग भूमिकाओं का निर्वहन करता था — उस व्यक्ति का जो रोग का उपचार करता था (अर्थात् चिकित्सक), उस व्यक्ति का जो दवा तैयार करता था (अर्थात् फ़ार्मासिस्ट) और उस व्यक्ति का जो दवा प्रदान करता था (अर्थात् केमिस्ट या दवा विक्रेता)। दूसरे शब्दों में, पारंपरिक आयुर्वेद में चिकित्सक, फ़ार्मासिस्ट एवं केमिस्ट तीनों एक ही व्यक्ति हुआ करता था। औपनिवेशिक आधुनिकता ने पारंपरिक आयुर्वेदिक उपचार पद्धति के इस एकीकृत स्वरूप को, जिसमें सभी तीन पहचान एक ही व्यक्ति अथवा वैद्य में समाई हुई थी, को बदल कर रख दिया। 19वीं सदी के अंत एवं 20वीं सदी की शुरुआत में हम भारत के विभिन्न भागों में ऐसी बड़ी-बड़ी आयुर्वेदिक दवा कंपनियों का उभार देखते हैं, जिन्होंने आयुर्वेदिक औषधियों के वृहत पैमाने पर व्यावसायिक उत्पादन की शुरुआत की। इनमें से कुछ प्रमुख थे — 1878 में चंद्र किशोर सेन द्वारा कलकत्ता में स्थापित सी. के. सेन ऐंड कंपनी, 1898 में बंगाल में स्थापित एन. एन. सेन ऐंड कंपनी, 1901 में स्थापित ढाका औषधालय, 1902 में पी. एस. वैरियर द्वारा कोट्टाकल (केरल) में स्थापित आर्य वैद्यशाला, इत्यादि। इसी दौर में कुछ राष्ट्रवादी नेताओं जैसे कि प्रफुल्ल चंद्र रे ने भी मानकीकृत आयुर्वेदिक औषधियों के उत्पादन पर बल दिया। रे की ही भाँति मदन मोहन मालवीय ने बनारस शहर के प्रतिष्ठित वैद्यों से परामर्श के पश्चात बनारस में एक आयुर्वेदिक फ़ार्मेसी की स्थापना की। साथ-ही-साथ इसी अवधि में डाबर (1884), झंडू (1910), बैद्यनाथ (1917) और हिमालय (1930) जैसी दिग्गज आयुर्वेदिक फ़ार्मेसियों की भी उत्पत्ति देखी जा सकती है।[20]

उपरोक्त बड़ी-बड़ी आयुर्वेदिक दवा कंपनियों के अलावा विभिन्न शहरों में स्थानीय स्तर पर अनगिनत छोटी फ़ार्मेसियाँ भी इस दौर में अस्तित्व में आईं। वास्तव में 1905 के स्वदेशी आंदोलन तथा विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार ने इन आयुर्वेदिक फ़ार्मेसियों को यथोचित प्रश्रय दिया।[21]

[20] आयुर्वेदिक दवा कंपनियों के उभार तथा उनके द्वारा अपनाई गई रणनीति पर विस्तार से चर्चा के लिए देखें, मधुलिका बनर्जी (2009).

[21] सुजाता मुखर्जी (2015) : 108.
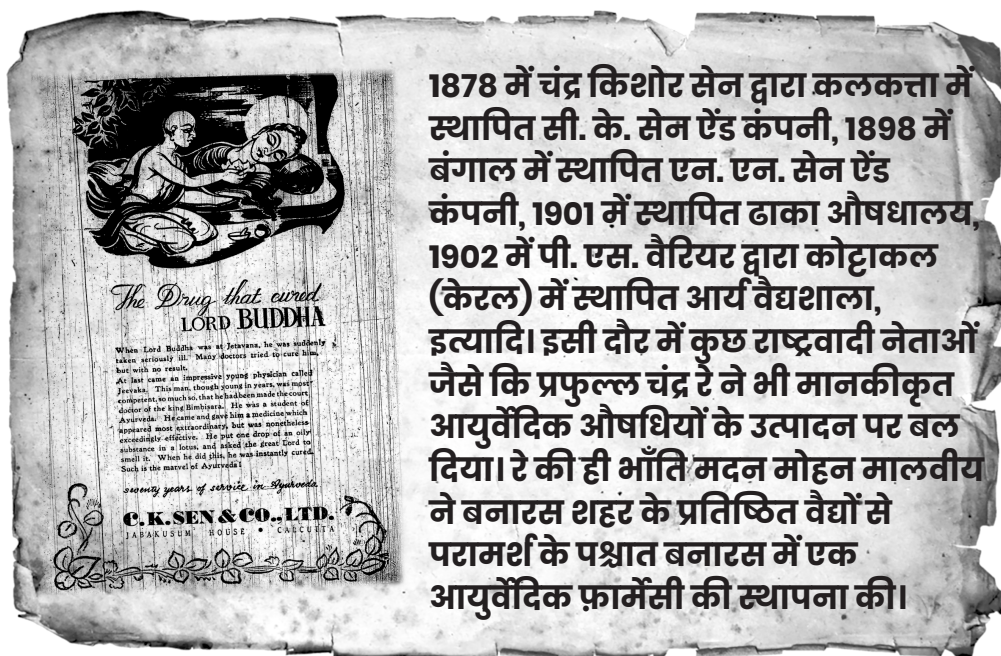
1878 में चंद्र किशोर सेन द्वारा कलकत्ता में स्थापित सी. के. सेन ऐंड कंपनी, 1898 में बंगाल में स्थापित एन. एन. सेन ऐंड कंपनी, 1901 में स्थापित ढाका औषधालय, 1902 में पी. एस. वैरियर द्वारा कोट्टाकल (केरल) में स्थापित आर्य वैद्यशाला, इत्यादि। इसी दौर में कुछ राष्ट्रवादी नेताओं जैसे कि प्रफुल्ल चंद्र रे ने भी मानकीकृत आयुर्वेदिक औषधियों के उत्पादन पर बल दिया। रे की ही भाँति मदन मोहन मालवीय ने बनारस शहर के प्रतिष्ठित वैद्यों से परामर्श के पश्चात बनारस में एक आयुर्वेदिक फ़ार्मेसी की स्थापना की।

समकालीन समाचार-पत्रों में इन फ़ार्मेसियों तथा उनके द्वारा निर्मित आयुर्वेदिक औषधियों के विज्ञापन अत्यधिक संख्या में देखे जा सकते हैं।[22] इस प्रकार से 20वीं शताब्दी की शुरुआत में 'आधुनिक' आयुर्वेद के बैनर तले नव वैद्यों ने आयुर्वेदिक पुनरुत्थानवादी आंदोलन के ध्वजवाहक बन कर उभरे परंपरागत उपचार प्रणाली तथा इससे जुड़े पारंपरिक वैद्यों को पृष्ठभूमि में धकेल दिया।

सामाजिक संरचनाएँ तथा आयुर्वेदिक पुनरुत्थान

सामाजिक संरचनाओं ने भी इस दौर में आयुर्वेदिक चिकित्सकों को आंतरिक तौर पर विभक्त करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। यह ग़ौरतलब है कि हमारे पास 'आयुर्वेद' नामक कोई भी मानक ग्रंथ-संग्रह मौजूद नहीं है। आयुर्वेदिक अवधारणाएँ हमें विभिन्न ग्रंथों में बिखरी हुई मिलती हैं जैसे कि *अथर्ववेद*, *चरक संहिता*, *सुश्रुत संहिता* आदि में। किसी एक मानक ग्रंथ की अनुपस्थिति में समय के साथ अनेक चिकित्सक एवं उनकी उपचार पद्धतियाँ आयुर्वेद के व्यापक दायरे का हिस्सा बन गए। इस संदर्भ में चार्ल्स लेसली यह तर्क देते हैं कि 'एशियाई चिकित्सा पद्धतियाँ सर्वथा गतिशील रही हैं तथा संस्कृति एवं समाज, जिसमें वे अंतर्निहित हैं, की ही भाँति उनका भी क्रमिक विकास होता रहा है।[23]'दूसरे शब्दों में आयुर्वेद की सीमाएँ सदियों से लचीली तथा अपरिभाषित रहीं। आयुर्वेदिक

---

[22] इस दौर में विभिन्न समाचार-पत्रों एवं पत्रिकाओं में प्रकाशित आयुर्वेदिक विज्ञापनों पर विस्तृत चर्चा के लिए देखें, माधुरी शर्मा (2009).

[23] चार्ल्स लेसली (1992) : 6.

चिकित्सा पद्धति का ये लचीलापन औपनिवेशिक शासकों के लिए आलोचना का विषय था। आयुर्वेद के इस लचीलेपन के चलते वे इसे एक संगठित चिकित्सा पद्धति मानने को तैयार न थे। ऐसे में 20वीं सदी के 'नव' वैद्यों ने आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति की सीमाओं को सुदृढ़ करते हुए इसे एक मानकीकृत स्वरूप देने का प्रयास किया।

के.एन. पणिक्कर हमें बताते हैं औपनिवेशिक भारत में 'स्वदेशी' चिकित्सा पद्धतियों को पुनर्जीवित करने का संघर्ष बहुआयामी था। यह सिर्फ़ औपनिवेशिक शासन के प्रति राष्ट्रवादी संघर्ष का द्योतक न था, वरन यह औपनिवेशिक समाज के अंदरूनी वर्गों एवं जातियों के बीच कलह एवं सांस्कृतिक आधिपत्य के संघर्ष को भी प्रतिबिंबित कर रहा था।[24] दूसरे शब्दों में 19वीं सदी के उत्तरार्ध एवं 20वीं सदी के पूर्वार्ध में 'स्वदेशी' चिकित्सा पद्धतियों के पुनरुत्थान को लेकर चल रहे आंदोलन के अध्ययन में जाति एवं वर्ग संबंधी प्रतिमानों की अनदेखी नहीं की जा सकती है। 'नव' वैद्य जहाँ एक तरफ़ पाश्चात्य चिकित्सा के बढ़ते प्रभुत्व का मुक़ाबला कर रहे थे, वहीं दूसरी तरफ़ वे आयुर्वेद के पुनर्गठन के दौरान इसे निम्न जाति एवं वर्गों से संबंधित लोक चिकित्सकों एवं उनके उपचार पद्धतियों से भी मुक्त करने की चेष्टा कर रहे थे। यह 'आधुनिक' आयुर्वेद की उच्च जातीय तथा मध्यवर्गीय पहचान के निर्माण का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा था। साथ-ही-साथ यह आयुर्वेदिक चिकित्सा के शहरीकरण की प्रक्रिया को भी प्रकट करता है। यहाँ ये ध्यान देने योग्य है कि अधिकांश 'नव' वैद्य शहरी मध्यवर्गीय परिवेश से जुड़े हुए थे। ऐसे में ग्रामीण इलाक़ों में सक्रिय निम्नवर्गीय लोक चिकित्सकों के प्रति उनका यह नकारात्मक रुझान कदाचित अप्रत्याशित न था।

उपरोक्त संदर्भ में आयुर्वेद को सुव्यवस्थित करने के उद्देश्य से अखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन ने न सिर्फ़ अन्य 'स्वदेशी' चिकित्सा पद्धतियों से आए उपचार के तौर-तरीक़ों को 'आधुनिक' आयुर्वेद की परिधि से दूर करने की कोशिश की, बल्कि इसे निम्न जाति एवं वर्गों से संबंधित लोक चिकित्सकों के लिए भी दुष्कर बना दिया। सम्मेलन का यह मानना था कि समय के साथ ऐसे कई लोग तथा उनके तौर-तरीक़े आयुर्वेद में शामिल हो गए हैं जिनके पास इस वैदिक ज्ञान को धारण करने के लिए आवश्यक बुद्धि है ही नहीं। ऐसे लोग सिर्फ़ किसी 'रामबाण औषधि' का निर्माण कर या किसी उपयोगी आयुर्वेदिक औषधि का पेटेंट करा त्वरित व्यावसायिक लाभ पाने में रुचि रखते हैं। इस प्रवृत्ति पर विलाप करते हुए लखनऊ के तत्कालीन वैद्य पंडित शालिग्राम शास्त्री ने *वैद्य सम्मेलन पत्रिका* में प्रकाशित लेख में यह लिखा कि 'अब बहुसंख्यक लोग आयुर्वेद को आर्थिक लाभ के दृष्टिकोण से सीखते हैं और कई ऐसे लोग भी इसमें प्रवेश कर गए हैं जो आयुर्वेद के शास्त्रीय ग्रंथों को समझने में पूर्णतया असमर्थ हैं। ये लोग न तो आयुर्वेद के रहस्यों को समझते हैं और न ही उनके पास इसे समझ पाने के लिए पर्याप्त बुद्धि ही है। वे सदैव *अमृतधारा* और *सुधानिधि* जैसी उपयोगी आयुर्वेदिक नुस्ख़ों की तलाश में रहते हैं जिसे पेटेंट करा वे किसी आयुर्वेदिक प्रतिष्ठान के मठाधीश बन सकें। ऐसे स्वघोषित वैद्य अथवा कविराज आयुर्वेद के लिए अपयश लाते हैं।'[25] इसी प्रकार के. एस. म्हासकर ने अपने एक लेख 'आयुर्वेद की सद्यः स्थिति' में ऐसे स्वघोषित स्थानीय

---

[24] के. एन. पणिक्कर (1995) : 175.

[25] शालिग्राम शास्त्री (अगस्त-सितंबर 1933) : 156.

आयुर्वेदिक चिकित्सकों तथा लोक वैद्यों को माली, चमार, नाई, धोबी, बूढ़ी विधवा इत्यादि के साथ श्रेणीबद्ध कर इन्हें 'कलयुगी चिकित्सकों' की उपमा दी।[26]

याद रखें कि निम्न जाति/वर्ग के चिकित्सकों को 'आधुनिक' आयुर्वेद की परिधि से बाहर निकालने की उपरोक्त प्रक्रिया अंतर्विरोधों से भरी हुई थी। एक तरफ़ तो 'नव' वैद्य गाँव-देहात में सक्रिय निम्न जातीय/वर्गीय चिकित्सकों की आलोचना कर रहे थे एवं उनके उपचार के तौर-तरीक़ों को आयुर्वेद-सम्मत मानने को तैयार न थे, वहीं दूसरी तरफ़ वे उन्हीं तौर-तरीक़ों में से कुछ का ब्राह्मणीकरण कर 'आधुनिक' आयुर्वेद का हिस्सा बनाने में भी निरंतर लगे हुए थे। उदाहरणस्वरूप, उड़ीसा तथा अन्य प्रांतों में सर्पदंश का उपचार प्रायः निम्न जातीय लोकवैद्य ही किया करते थे। ऐसा इसलिए था क्योंकि सर्पदंश के उपचार के समय पीड़ित के पैर छूने पड़ते थे जो किसी उच्च जाति के चिकित्सक के लिए अपमानजनक था। हालाँकि 19वीं सदी के उत्तरार्ध एवं 20वीं सदी के पूर्वार्ध में उड़ीसा से प्रकाशित आयुर्वेदिक ग्रंथों में न सिर्फ़ ब्राह्मण वैद्यों से भी इस काम को करने का आग्रह किया गया है, वरन इनमें सर्पदंश के उन्हीं उपचारों जिसका वहन लोक वैद्य शताब्दियों से करते आ रहे थे, का कर्मकांडीय तरीक़े से वर्णन भी मिलता है।[27] अर्थात, तत्कालीन आयुर्वेदिक प्रवचनों में एक तरफ़ तो लोक वैद्यों की भर्त्सना की जा रही थी, वहीं दूसरी तरफ़ उन्हीं के उपचार के तरीक़ों को मंत्र-तंत्र से मिश्रित कर उसे 'आधुनिक' आयुर्वेद का हिस्सा भी बनाया जा रहा था।

इसी प्रकार से 20वीं सदी की शुरुआती दौर में पुनरुत्थानवादी आयुर्वेदिक प्रवचन में सुश्रुत संहिता में शल्य ज्ञान की मौजूदगी के लंबे-लंबे दावे मिलते हैं। परंतु, इस प्रवचन में बड़ी ही कुशलता से इस तथ्य को छिपाया गया कि ज़्यादातर निम्न जाति के लोगों जैसे कि कुम्हार, नाई, कोहल आदि ने सदियों तक इस शल्य ज्ञान के व्यावहारिक स्वरूप का वहन किया था।[28] दूसरे शब्दों में, 'आधुनिक' आयुर्वेद के निर्माण के दौरान निम्न जाति के चिकित्सकों के वैद्यक संबंधी ज्ञान को तो किसी-न-किसी रूप में अंगीकृत कर लिया गया, परंतु इन चिकित्सकों को धीरे-धीरे सुव्यवस्थित एवं मानकीकृत आयुर्वेद की परिधि से बाहर निकाल फेंका गया।

कुछ ऐसे ही विचार तत्कालीन आयुर्वेदिक विमर्श में दाई तथा धाय को लेकर भी मिलते हैं। दाइयों (जो कि अधिकांशतः निम्न जातियों से संबद्ध थीं) को तो एक 'सशक्त' एवं 'सुदृढ़' राष्ट्र के निर्माण में सबसे बड़ा बाधक तक बताया गया। इसी क्रम में तत्कालीन आयुर्वेदिक पुनरुत्थानवादी नेतृत्व ने 'उच्च कुल' की विधवा स्त्रियों से इन निम्नजातीय दाइयों को विस्थापित करने का भी आह्वान किया।[29] दरअसल, उस दौर के मध्यवर्गीय हिंदू सुधारवादियों का यह मानना था कि निम्न जाति की दाइयाँ साधारणतया 'गंदी' एवं 'संदिग्ध यौनिकता' वाली होती हैं जिनसे अच्छे घर की स्त्रियों तथा बच्चों को सदैव बच कर रहना चाहिए।[30] जहाँ तक धाय का प्रश्न था तत्कालीन आयुर्वेदिक प्रवचन में इस बात का उल्लेख मिलता है कि स्तनपान के माध्यम से जाति विशेष के संस्कार शिशु में अंतरित हो सकते हैं। इसलिए यह सलाह दी गई कि ब्राह्मणों को सिर्फ़ ब्राह्मण धाय, क्षत्रियों को क्षत्रिय धाय, वैश्यों को वैश्य

[26] के. एस. म्हासकर (दिसंबर 1931) : 284.

[27] बिस्वमॉय पति (2001) : 18.

[28] सुष्मिता बसु मजुमदार (2008) : 196-210.

[29] अयोध्या प्रसाद भार्गव (1923) : 252-54.

[30] चारु गुप्ता (2001) : 181-82.

धाय एवं शूद्रों को शूद्र धाय ही रखनी चाहिए।[31] अतः हम देख सकते हैं कि 'आधुनिक' आयुर्वेद का निर्माण तत्कालीन सामाजिक संरचनाओं, पूर्वाग्रहों एवं मान्यताओं से अछूता न था।

निष्कर्ष

उपरोक्त चर्चा से यह स्पष्ट है कि 19वीं सदी के उत्तरार्ध एवं 20वीं सदी के पूर्वार्ध में 'स्वदेशी' चिकित्सा पद्धतियों के पुनरुत्थान के प्रयासों ने एक प्रकार से 'भानुमति का पिटारा' खोल दिया था। इस मुहिम में प्रत्येक स्तर पर विरोधाभास एवं जटिलताएँ दिखाई पड़ती हैं जिन्हें तत्कालीन आयुर्वेदिक पुनरुत्थानवादी आंदोलन के विभिन्न पहलुओं के माध्यम से इस लेख में दिखाया गया है। एक तरफ़ जहाँ 'स्वदेशी' चिकित्सा पद्धतियों के प्रवर्तक पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति का विरोध कर रहे थे, वहीं दूसरी तरफ़ पाश्चात्य चिकित्सा से संबंधित कई चीज़ें अपना भी रहे थे। इसी प्रकार कौन-सी चिकित्सा पद्धति भारत की 'वास्तविक' 'स्वदेशी' चिकित्सा पद्धति का प्रतिनिधित्व करती है, इस बात पर भी विवाद था। साथ ही दरार सिर्फ़ अलग-अलग 'स्वदेशी' चिकित्सा पद्धतियों तक सीमित न थी, वरन एक ही पद्धति के चिकित्सकों के मध्य भी थी। बहरहाल, एक बात जो उपरोक्त चर्चा से स्पष्ट है, 20वीं सदी के आयुर्वेदिक पुनरुत्थानवादी आंदोलन के पश्चात् आयुर्वेद का जो स्वरूप उभर कर सामने आया, जिसे हम वर्तमान समय में देख रहे हैं, वह परंपरागत आयुर्वेद से भिन्न 'आधुनिक' आयुर्वेद है जिसकी नींव 'नव' वैद्यों द्वारा औपनिवेशिक काल में रखी गई।

संदर्भ

अयोध्या प्रसाद भार्गव (1923), *संतति शास्त्र,* बनारस सिटी.

एरिक हॉब्सबॉम व टेरेंस रेंजर (सं) (1983), *दि इन्वेंशन ऑफ़ ट्रैडिशन*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

कविता शिवरामकृष्णन (2006), *ओल्ड पोशंस, न्यू बॉटल्स : रीकास्टिंग इंडिजेनस मेडिसिन इन कोलोनियल पंजाब,* 1850-1945, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली.

क्लॉडिआ लाइबेसकिंड (2002), 'आरगुइंग साइंस: यूनानी तिब्ब, हकीम्स ऐंड बायोमेडिसिन इन इंडिया, 1900-50', वालट्रॉड एर्नस्ट (सं), *प्लुरल मेडिसिन, ट्रैडिशन ऐंड मॉडर्निटी*, 1800-2000, रटलेज, लंदन.

के.एन. पणिक्कर (1995), *कल्चर, हेजेमनी, आइडियोलॉजी : इंटेलेक्चुअल्स ऐंड सोशल कॉन्शसनेस इन कोलोनियल इंडिया*, तूलिका, नई दिल्ली.

के. एस. म्हासकर (दिसंबर 1931), 'आयुर्वेद की सद्यः स्थिति' , *वैद्य सम्मेलन पत्रिका*, वर्ष 1, सं 12.

गाय ऐटवेल (2007), *रीफ़िगरिंग यूनानी तिब्ब : प्लुरल हीलिंग इन लेट कोलोनियल इंडिया,* ओरिएंट ब्लैकस्वान, हैदराबाद.

चारु गुप्ता (2001), *सेक्शुऑलिटी, ऑब्सेनिटी, कम्युनिटी: वीमेन, मुस्लिम्स ऐंड दि हिंदू पब्लिक इन कोलोनियल इंडिया,* परमानेंट ब्लैक, नई दिल्ली.

चार्ल्स लेसली व एलेन यंग (1992), *पाथ्स टू मेडिकल नॉलेज*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.

[31] अयोध्या प्रसाद भार्गव (1923) : 252-54.

डेविड आर्नल्ड (1993), *कोलोनाइज़िंग दि बॉडी : स्टेट मेडिसिन ऐंड एपिडेमिक डिज़ीज़ इन नाइंटींथ सेंचुरी इंडिया,* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.

डेविड आर्नल्ड (2000), *दि न्यू केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया : साइंस, टेक्नॉलजी ऐंड मेडिसिन इन कोलोनियल इंडिया,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

पार्थ चटर्जी (1989), 'कोलोनियलिज़म, नैशनलिज़म ऐंड कोलोनाइज़्ड वीमेन : दि कॉन्टेस्ट इन इंडिया', *अमेरिकन एथ्नॉलजिस्ट,* वर्ष 16, अंक 4.

पार्थ चटर्जी (1993), *दि नेशन ऐंड इट्स फ्रैग्मेंट्स : कोलोनियल ऐंड पोस्टकोलोनियल हिस्ट्रीज़,* प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.

पूनम बाला (1991), *इंपीरियलिज़म ऐंड मेडिसिन इन बंगाल : अ सोशिओ-हिस्टोरिकल पर्सपेक्टिव,* सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली.

पूनम बाला (2012), *कंटेस्टिंग कोलोनियल अथॉरिटी : मेडिसिन ऐंड इंडिजेनस रेस्पॉन्सेज़ इन नाइंटींथ ऐंड ट्वेंटिएथ सेंचुरी इंडिया,* लेक्सिंग्टन बुक्स, लेनहम.

बारबरा डी. मेटकाफ़ (1985), 'नैशनलिस्ट मुस्लिम्स इन ब्रिटिश इंडिया : दि केस ऑफ़ हकीम अजमल ख़ान', *मॉडर्न एशियन स्टडीज़,* वर्ष 19, अंक 1.

बिस्वमॉय पति (2001), *सिचुएटिंग सोशल हिस्ट्री : उड़ीसा (1800-1997),* ओरिएंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली.

मधुलिका बनर्जी (2009), *पॉवर, नॉलेज, मेडिसिन : आयुर्वेदिक फ़ार्मास्युटिकल्स ऐट होम ऐंड इन दि वर्ल्ड,* ओरिएंट ब्लैकस्वान, हैदराबाद.

महात्मा गांधी (13 फ़रवरी, 1921), 'भाषण : दिल्ली में तिब्बिया कॉलेज के उद्घाटन पर', *संपूर्ण गांधी वाङ्मय,* खंड 19, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, 1966.

मार्क हैरिसन (1994), *पब्लिक हेल्थ इन ब्रिटिश इंडिया : ऐंग्लो-इंडियन प्रिवेंटिव मेडिसिन 1859-1914*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

माधुरी शर्मा (2009), 'क्रिएटिंग अ कंज़्यूमर : एक्सप्लोरिंग मेडिकल एडवर्टिज़मेंट्स इन कोलोनियल इंडिया', बिस्वमॉय पति व मार्क हैरिसन (सं), *सोशल हिस्ट्री ऑफ़ हेल्थ ऐंड मेडिसिन इन कोलोनियल इंडिया*, रटलेज, लंदन.

शालिग्राम शास्त्री (अगस्त-सितंबर 1933), 'वेदों में त्रिधातुवाद', *वैद्य सम्मेलन पत्रिका*, वर्ष 3, सं 8-9.

सुजाता मुखर्जी (2015), 'आयुर्वेदिक मेडिसिन इन कोलोनियल बंगाल : चैलेंज ऐंड रिस्पांस', सैयद एजाज़ हुसैन व मोहित साहा (सं.), *इंडियाज इंडिजेनस मेडिकल सिस्टम्स : अ क्रॉस-डिसिप्लनरी एप्रोच,* प्राइमस, दिल्ली.

सुष्मिता बसु मजुमदार (2008), 'मेडिकल प्रैक्टिशनर्स ऐंड मेडिकल इंस्टीटूशंस : ग्लीनिंग्स फ़्रॉम एपीग्राफ़्स', *प्रोसीडिंग्स ऑफ़ इंडियन हिस्ट्री कॉन्ग्रेस*, 69वाँ सत्र, कन्नूर.

सैंड्रिया फ़्रायटैग (1989), *कलेक्टिव ऐक्शन ऐंड कम्युनिटी : पब्लिक एरीना ऐंड दि एमर्जेंस ऑफ़ कम्युनलिज़म इन नार्थ इंडिया*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.